E-ISSN: 2664-603X
P-ISSN: 2664-6021
IJPSG 2023; 5(2): 149-152
www.journalofpoliticalscience.com
Received: 06-08-2023
Accepted: 11-09-2023

रेनू
अतिथि प्रोफेसर, आर. डी. एस. कॉलेज, रेवाडी, हरियाणा, भारत

Corresponding Author:
रेनू
अतिथि प्रोफेसर, आर. डी. एस. कॉलेज, रेवाडी, हरियाणा, भारत

भारत में दलित और मानवाधिकारः एक दृष्टिकोण

रेनू

DOI: https://doi.org/10.33545/26646021.2023.v5.i2c.272

सारांश
इस शोधपत्र का उद्देश्य भारत में दलितों के सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों को प्रासंगिक बनाना और मानव अधिकारों के मुद्दों पर ध्यान देना है और इनका भारतीय संविधान और दलितों के अधिकारों पर कितना प्रभाव पड़ता है इसका मूल्यांकन करना है। इसमें मानवाधिकारों का दो दृष्टिकोणों से मूल्यांकन करने का प्रयास किया जाएगा जो दार्शनिक और ऐतिहासिक होगा। मानवाधिकार मानव जीवन का बहुत महत्वपूर्ण हिस्सा हैं, क्योंकि ये मनुष्य को सभ्य और सम्मानजनक जीवन जीने में मदद कर सकते हैं।

कूटशब्द : मानवाधिकार, दलित, भारतीय संविधान, सामाजिक क्रान्ति

प्रस्तावना
मानवाधिकार वे अधिकार हैं जो लोगों को सम्मान के साथ जीने और सभ्य जीवन जीने में सक्षम बनाते हैं। जीवन का अधिकार सबसे पहला अधिकार था जिसने मनुष्य को मान्यता दी। जैक्स मार्टिन के अनुसार, "मानवाधिकार व्यक्ति को दिए गए वो अधिकार है, जिससे व्यकित का समग्र विकास होता है, प्रत्येक व्यक्ति स्वयं का स्वामी है और प्रत्येक व्यक्ति को सम्मान पाने का अधिकार है। हरगोपाल जी के अनुसार ''मानवाधिकार वे अधिकार हैं जो किसी व्यक्ति को इस आधार पर दिए जाते हैं कि वह एक मानव है।''[1] मानवाधिकार वह शब्द है जिसमें नागरिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकार शामिल हैं। इस बात पर जोर दिया गया है कि, "मानवाधिकार किसी राजनीतिक श्रेष्ठ का उपहार नहीं है, बल्कि ये लोगों का अधिकार है।"[2] मानव अधिकार संरक्षण अधिनियम, मानव अधिकार को इस प्रकार परिभाषित करता है। मानवाधिकार व्यक्ति के जीवन, समानता और गरिमा से संबंधित अधिकार जो संविधान द्वारा सभी मनुष्यों को दिए जाते हैं।
इस प्रकार, मानवाधिकार वे अधिकार हैं जिनका प्रत्येक व्यक्ति हकदार है। मानवाधिकार लोगों के अधिकारों की सुरक्षा प्रदान करता है और साथ ही, लोगों में जागरूकता पैदा करता है। यह समझना हर किसी का कर्तव्य है कि वे दूसरों को उनके अधिकारों से वंचित नहीं कर सकते। जाति, लिंग, नस्ल, जातीयता, राष्ट्रीयता और मूल स्थान की परवाह किए बिना लोगों को मानवाधिकार प्रदान किए जाते हैं।
पहले के समय में मानव अधिकारों की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था क्योंकि अधिकांश शक्ति राजा के पास थी। लोगों के बोलने, विचारों की अभिव्यक्ति करने, संगठन बनाने और याचिका दायर करने की स्वतंत्रता जैसे कोई अधिकार नहीं थे। समय के साथ, सामाजिक अनुबंध सिद्धांत ने गति पकड़ी। सामाजिक संस्थाओं और समानता तथा न्याय में अतीत के साथ तीव्र विरोधाभास देखा गया। परिणामस्वरूप, लोग अधिकारों और स्वतंत्रता की माँग करने लगे।[3]
उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के दौरान, जे.एस. मिल ने टकराव के अधिकारों का विरोध किया और उन्होंने व्यक्तिगत मनुष्यों की स्वतंत्रता में अधिकारों का क्षेत्र पाया। मिल ने मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अवधारणा का समर्थन किया। इसके बाद, मानव स्वतंत्रता और लोगों की स्वतंत्रता की आधुनिक धारणा मानव अधिकार चार्टर की सार्वभौम घोषणा में परिलक्षित हुई, जिसमें मानव गरिमा और पूर्ण अधिकारों पर जोर दिया गया। इसके बाद, 1948 में मानवाधिकार लगभग एक सार्वभौमिक कानूनी दस्तावेज़ बन गया। इसने राज्य स्तर पर व्यक्तिगत अधिकारों को महत्व दिया था।[4] जल्द ही, नागरिक अधिकार और राजनीतिक अधिकार की अवधारणा के बीच एक बहस शुरू हो गई और सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता मानवाधिकार प्रवचन का हिस्सा बन गई। परिणामस्वरूप, संयुक्त राज्य अमेरिका ने पूंजीवादी स्वतंत्रता पर प्रतिबंध के संबंध में अपनी आपत्तियों के कारण मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा में एक पक्ष बनने से इनकार कर दिया।
मैग्ना कार्टा मानव अधिकारों को औपचारिक रूप देने वाले सबसे शुरुआती दस्तावेजों में से एक था।

मैग्ना कार्टा वर्ष 1215 में इंग्लैंड में लिखा गया था। यह राजा और लॉर्ड्स के बीच एक अनुबंध था। उस वर्ष अंग्रेजी इतिहास में आमूल–चूल परिवर्तन देखा गया। इसने राजा को लगभग शक्तिहीन बना दिया। हालाँकि, इसने संघीय ढांचे को शक्ति प्रदान की, यह इंग्लैंड में अधिकारों के उद्भव का एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। हालाँकि, मैग्ना कार्टा ने केवल सामंती प्रभुओं को कुछ रियायतें दीं, इसने राजा के शासन की सीमाएँ निर्धारित कीं और कानून के शासन की नींव रखी। मैग्ना कार्टा के अनुसार, राजा को संघीय अधिकारियों से परामर्श करना पड़ता था। दस्तावेज़ में सत्ता के विकेंद्रीकरण पर जोर दिया गया और व्यक्ति केंद्रित मानवाधिकारों का विरोध किया गया।

16वीं शताब्दी में यूरोप के ज्ञानोदय के दौरान इंग्लैंड में मानवाधिकार का विचार फिर से एक शक्तिशाली मुद्दे के रूप में उभरा। इसमें वैज्ञानिक ज्ञान और मानवाधिकारों की तर्कसंगतता पर जोर दिया गया। इसके अधिकारों की याचिका वर्ष 1628 में अस्तित्व में आई और इसने इंग्लैंड में राजा की शक्ति को कम कर दिया था जो व्यक्तियों के अधिकारों की मान्यता में महत्वपूर्ण मोड़ था। वर्ष 1688 में इंग्लैंड में सरकार को चुनौती देने के लिए कई क्रांतियाँ हुईं। परिणामस्वरूप, 1689 में, अंग्रेजी अधिकार विधेयक अधिनियमित किया गया। इस विधेयक ने राजशाही की शक्ति को सीमित कर दिया और संसद को शक्तियाँ दे दीं। बाद में 17वीं और 18वीं शताब्दी में व्यक्तियों के अधिकारों का दायरा व्यापक हो गया।[5]

फ्रांसीसी क्रांति के कुछ ही हफ्तों के भीतर, सितंबर 24, 1789 में संयुक्त राज्य अमेरिका की संसद ने अधिकारों का विधेयक लागू किया। इन क्रांतियों ने समानता, स्वतंत्रता, बंधुत्व और सामाजिक न्याय की धारणा को आगे बढ़ाया। इन क्रांतियों ने लोगों के मन में यह आशा पैदा की कि मानवाधिकारों की मान्यता वास्तव में संभव है। यूनाइटेड स्टेट्स बिल ऑफ राइट्स वास्तव में लोकतंत्र की स्थापना का आधार था जिसने व्यक्ति की गरिमा को मान्यता दी, जो बाद में बुनियादी मानव अधिकारों के रूप में उभरी।

मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा (यूडीएचआर)

मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा को 10 दिसंबर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र संगठन द्वारा लागू किया गया था। इसे मानवाधिकारों के संरक्षण और प्रचार में मील का पत्थर माना गया था। घोषणापत्र ने देशों को अनुसरण करने के लिए मानकों का एक सेट और एक मॉडल प्रदान किया और मानवाधिकारों पर अपना स्वयं का मानक स्थापित किया। यूडीएचआर ने लोगों की गरिमा, समानता, स्वतंत्रता, न्याय को महत्व दिया था। इसके अलावा, घोषणापत्र में यह घोषणा की गई है कि मानवाधिकारों की रक्षा कानून के शासन द्वारा की जानी चाहिए। राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों के विकास को बढ़ावा देते हुए, यह मानव अधिकारों के मूल सिद्धांतों, यानी मानव की गरिमा और पुरुषों और महिलाओं के लिए समान अधिकारों की रक्षा करता है। यह सामाजिक प्रगति और मनुष्य के बेहतर मूल्यों को बढ़ावा देता है। मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा अंतर्राष्ट्रीय कानूनों और घरेलू मानवाधिकार कानूनों की नींव बन गई।[6] इसलिए, यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र ने सार्वभौमिक सत्य को स्वीकार कर लिया था, अर्थात, सभी मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुए हैं और सम्मान और अधिकारों में समान हैं।

यूडीएचआर मानव अधिकारों पर पहला कानूनी दस्तावेज था, जिसे सभी मनुष्यों के लिए अंतर्राष्ट्रीय मैग्ना कार्टा माना गया जो मानव अधिकारों के इतिहास में मील का पत्थर बन गया। यूडीएचआर के कुछ सिद्धांत हैं। इसके अलावा, घोषणा में घोषणा की गई थीः "सभी लोगों और सभी राष्ट्रों के लिए उपलब्धि का एक सामान्य मानक। घोषणा को लगातार ध्यान में रखते हुए, अधिकारों और स्वतंत्रता के लिए शिक्षण और शिक्षा और सम्मान को बढ़ावा देने और अधिकारों के पालन पर उनकी सार्वभौमिक और प्रभावी मान्यता को सुरक्षित करने के लिए राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रगतिशील उपायों द्वारा बने रहेंगे।"[7] घोषणापत्र ने संयुक्त राष्ट्र में पहली बार मानवाधिकारों की अवधारणा को विस्तृत और प्रस्तुत किया और सामाजिक, आर्थिक, नागरिक और राजनीतिक अधिकारों को आवंटित किया। इसके अलावा, घोषणा कई मुद्दों का प्रतिनिधित्व करती है, जैसे, जीवन का अधिकार, स्वतंत्रता, सुरक्षा, स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति, सभा और संघ, मतदान का अधिकार, भागीदारी, भेदभाव के खिलाफ समान सुरक्षा और समानता आदि। इसने इनके बारे में मानव मन में चेतना पैदा की।

भारत में दलित मानवाधिकारों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण

एड्रियन वासिले ने मानवाधिकारों को तीन पीढ़ियों में विभाजित किया है। मानवाधिकारों की पहली पीढ़ी में नागरिक और राजनीतिक अधिकार शामिल थे; दूसरा, सामाजिक–आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकार; और तीसरा, विकास अधिकार या सामूहिक या समूह अधिकार।

मानवाधिकारों की पहली पीढ़ी ने जीवन के अधिकार, स्वतंत्रता और संघों के अधिकार जैसे नागरिक और राजनीतिक अधिकारों पर जोर दिया। मानव अधिकार की दूसरी पीढ़ी ने सामाजिक–आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों जैसे काम, संपत्ति और धर्म के अधिकार पर जोर दिया। मानवाधिकारों की तीसरी पीढ़ी सामूहिक, या समूह, अधिकारों जैसे एकजुटता अधिकार, विकास और पर्यावरण और शांति का अधिकार पर केंद्रित थी। इन अधिकारों को सकारात्मक अधिकारों के रूप में भी जाना जाता है।[8] अनेक घोषणाओं एवं दस्तावेज़ों के माध्यम से विश्व में मानवाधिकारों का उदय हुआ। ये सभी मानव अधिकार पीढ़ी को भारतीय दृष्टिकोण से प्राप्त हो रहे हैं क्योंकि भारतीय संविधान में उन्हीं अधिकारों पर जोर दिया गया है जो पश्चिमी देश के सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों की रक्षा के लिए अधिकारों की पीढ़ी में निहित हैं। यह तीन पीढ़ियों के मानवाधिकारों को प्रासंगिक बनाने के लिए भी प्रासंगिक है।

हालाँकि आधुनिक युग में मनुष्य के पास अधिकार हैं लेकिन प्राचीन काल में अधिकारों का कोई उल्लेख नहीं था। कुछ वर्गों के पास सभी विशेषाधिकार थे और अन्य के पास अधिकार नहीं थे। मनुस्मृति के अनुसार भारतीय समाज चार वर्णों में विभाजित था। शेष जातियों पर ब्राह्मणों का पूर्ण नियंत्रण था। मनुस्मृति ने दलित वर्गों के अधिकारों को नकार दिया और वे अधिकारों के बिना रह रहे थे। जाति की समस्या बहुत बहुमुखी है क्योंकि हिंदू धर्म का दर्शन पदानुक्रमित और कठोर विश्वदृष्टिकोण में निहित है। इसके अलावा, उन्हें सभी अधिकारों से वंचित कर दिया गया। सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक अधिकार। इन सामाजिक बंधनों से बाहर आने के लिए भारत का संविधान समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व पर जोर देता है। इसका उद्देश्य समतावादी मूल्यों को बढ़ावा देना है। पदानुक्रमित सामाजिक व्यवस्था को समाप्त करने के लिए, भारतीय संविधान राज्य को एक नई सामाजिक व्यवस्था बनाने का निर्देश देता है और सभी मनुष्यों को समान रूप से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय देने का वादा करता है।[9] हिंदू सामाजिक व्यवस्था उन सिद्धांतों पर आधारित थी जो जाति द्वारा पूर्व निर्धारित जाति और जन्म और ग्रेडिंग प्रणाली पर आधारित थी। जिससे परिभाषित होता है कि असमानता का सिद्धांत हिंदू सामाजिक व्यवस्था का मूल है। महत्वपूर्ण बात यह है कि हिंदू धर्म में दार्शनिक तत्व भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उस व्यवस्था का समर्थन करते थे जो अलोकतांत्रिक और असमानतापूर्ण है।

भारतीय संविधान और दलितों के अधिकार

भारत के संविधान ने मौलिक अधिकारों और राज्य नीतियों के निदेशक सिद्धांतों को अपनाया है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में समतावादी मूल्य शामिल हैं जो समतावादी मूल्यों को बढ़ावा देता है और उनकी रक्षा करता है। संविधान की प्रस्तावना कहती है, "यह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों को सुरक्षित और संरक्षित करने के लिए गंभीरता से संकल्पित है; विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, विश्वास और पूजा की स्वतंत्रता। इसके अलावा, स्थिति और अवसर की समानता, और नागरिकों के बीच भाईचारे को बढ़ावा देना और व्यक्ति की गरिमा और एकता को सुनिश्चित करना।"[10]

भारतीय संविधान ने भेदभाव के खिलाफ कई कानून बनाए और अछूतों के लिए विशेष सुरक्षा प्रदान की। इसके बाद, 1955 के अस्पृश्यता अपराध अधिनियम द्वारा अस्पृश्यता को कानूनी रूप से समाप्त कर दिया गया। हालाँकि, सरकार ने भेदभाव को समाप्त कर दिया, फिर भी भारत में यह प्रक्रिया अभी भी जारी है। बाद में, भारत सरकार द्वारा इस अधिनियम का नाम बदलकर नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम 1955 (पीसीआर) कर दिया गया। इसके बाद, भारत सरकार ने 1984 में नया अधिनियम, यानी, अनुसूचित जाति/जनजाति अत्याचार निवारण अधिनियम बनाया था और अस्पृश्यता को खत्म करने और किसी भी रूप में भेदभाव को प्रतिबंधित करने के लिए और अधिक सख्त प्रावधान किए थे।

भारत के संविधान में दलितों के हितों की रक्षा के लिए कई प्रावधान हैं। इस संबंध में, यह एक महत्वपूर्ण कड़ी व भारतीय संविधान का विश्लेषण का आधार बनी। भारतीय संविधान की प्रस्तावना सभी मनुष्यों के लिए सामाजिक न्याय और गरिमा का उल्लेख करती है और एक समतावादी समाज और सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना करते हुए स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे को कायम रखती है।[11] संविधान का उद्देश्य मनुष्य को पर्याप्त मात्रा में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समानता प्रदान करना है। सभी मनुष्यों के लिए पर्याप्त सुविधाएं और अवसर प्रदान करने के लिए एक सतत प्रक्रिया की आवश्यकता है। हालाँकि भारत में अस्पृश्यता को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया है, फिर भी भारत के कई हिस्सों में यह अभी भी प्रकट और गुप्त रूप में प्रचलित है। वस्तुतः लोकतंत्र के बिना मानवाधिकारों की रक्षा संभव नहीं है। लोकतंत्र को मानवाधिकारों का पर्याय माना जाता है। लोकतंत्र का मतलब केवल बहुमत का शासन नहीं है, इसमें मानवाधिकारों की सुरक्षा भी शामिल है।[12] लोकतंत्र और मानवाधिकार दोनों ही मानव के मूल्यों और गरिमा पर आधारित हैं।

जाति व्यवस्था हिंदू सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है। अस्पृश्यता और भेदभाव और हिंदू सामाजिक व्यवस्था में बहुत अधिक कायम रहना। भारत में दबे–कुचले वर्गों या दलितों को सामाजिक–आर्थिक और संपत्ति के अधिकार प्रदान नहीं किये गये। इसके अलावा, हिंदू सामाजिक व्यवस्था में स्वतंत्रता, बंधुत्व और समानता जैसे समतावादी मूल्य मौजूद नहीं हैं। इस संबंध में, जाति व्यवस्था की तीन विशेषताएं हैं जिन पर चर्चा करना आवश्यक है। सबसे पहले, सामाजिक क्षेत्र में, लोगों का उनके सामाजिक समूह के आधार पर कृत्रिम विभाजन होता है। दूसरा, संपत्ति का असमान वितरण होता है। तीसरा, अभी भी सामाजिक और आर्थिक बहिष्कार है। इसलिए, अन्यायपूर्ण और भेदभावपूर्ण प्रथाओं को हतोत्साहित करने के लिए एक तंत्र और दंड की व्यवस्था होना अनिवार्य है। भारत में विभिन्न जातियों के लोगों के सामाजिक, सांस्कृतिक, नागरिक और धार्मिक अधिकार जन्म और जाति से पूर्व निर्धारित हैं। श्रम का विभाजन वंशानुगत है और जन्म को निश्चित करता है।

मानवाधिकार पर अम्बेडकर के विचार

डॉ. बी.आर. अम्बेडकर और एम.के. गांधी के दर्शन से मानवाधिकार विमर्श का विश्लेषण करना भी आवश्यक है। अम्बेडकर एक महान दार्शनिक थे जिन्होंने समाज के वंचित वर्ग के उत्थान और उनके मानवाधिकारों की सुरक्षा के लिए अथक संघर्ष किया। वह सभी मनुष्यों के लिए सामाजिक न्याय, स्वतंत्रता, बंधुत्व और समानता पर आधारित एक समतावादी समाज की स्थापना करना चाहते थे। प्रारंभिक चरण में अम्बेडकर ने भारतीय समाज में सामाजिक सुधारों पर जोर दिया। उन्होंने पाया कि भारत में, एक वर्ग (दलित) अपने अधिकारों से वंचित थे और ब्राह्मण सभी अधिकारों और विशेषाधिकारों का आनंद लेते थे। परिणामस्वरूप, अम्बेडकर ने दबी–कुचली जातियों को मुख्यधारा में लाने का प्रयास किया और दलितों को उनके अधिकार दिलाने के लिए संघर्ष किया। उन्होंने महसूस किया है कि सामाजिक आर्थिक अधिकारों और राजनीतिक अधिकारों के बिना, दलित सम्मान और सम्मान के साथ नहीं रह सकते। इसके अलावा, अम्बेडकर ने जोर देकर कहा कि केवल आर्थिक अधिकार ही दलितों के लिए महत्वपूर्ण नहीं हैं। समतावादी समाज बनाने के लिए सामाजिक सुधार भी उतने ही महत्वपूर्ण थे।

उन्होंने जाति व्यवस्था का विरोध किया जो बड़े पैमाने पर लोगों को उनके वैध अधिकारों का आनंद लेने की अनुमति नहीं देती थी। अम्बेडकर का आंदोलन हिंदू सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ था, जो दलितों को अपना काम चुनने और आर्थिक संसाधनों तक पहुंचने से रोकता था। इसके अलावा, वह जाति व्यवस्था का उन्मूलन चाहते थे और इसके लिए उपाय भी सुझाते थे। इनमें शामिल हैंः अंतर–जातीय विवाह और अंतर–भोजन और हिंदू धर्म का विनाश जिसने समाज को विभाजित किया और जाति व्यवस्था का समर्थन किया और यहां तक कि उसे उचित भी ठहराया। इसलिए, उन्होंने दलितों के सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक विकास पर जोर दिया। दलितों को सामाजिक–आर्थिक अधिकारों की आवश्यकता है, क्योंकि इन अधिकारों के बिना मनुष्य अपना जीवन नहीं चला सकते।[13]

भारत में मानवाधिकारों का मूल्यांकन

भारत में मानवाधिकार की अवधारणा कोई नई घटना नहीं है। यह बौद्ध धर्म में मौजूद था जो लोगों के बीच समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे की वकालत करता था। हालाँकि, समय के साथ, सभी अधिकारों और विशेषाधिकारों का आनंद केवल उच्च जातियों को मिलने लगा और अन्य वर्गों को उनके सभी अधिकारों से वंचित कर दिया गया।

बौद्ध धर्म ने समानता, स्वतंत्रता और भाईचारे की वकालत की। प्राचीन भारत में राजा अशोक ने मानव अधिकारों की रक्षा के लिए कार्य किया तथा कल्याणकारी राज्य की स्थापना की जिसमें लोगों को स्वतंत्रता एवं अधिकार दिये गये। बौद्ध सिद्धांत ने तीसरी ईसा पूर्व में अहिंसा और मानवतावाद के सिद्धांत को भी प्रतिपादित किया था। बौद्ध धर्म ने सभी समुदायों के अधिकारों पर जोर दिया। यह मानवतावाद, समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के सिद्धांतों में विश्वास करता था। हिंदू सामाजिक व्यवस्था व्यक्तिगत अधिकारों और स्वतंत्रता के विरुद्ध थी। हिंदू सामाजिक व्यवस्था समतावादी सिद्धांतों पर आधारित नहीं थी। परिणामस्वरूप, दलित वर्गों को उनके अधिकारों से वंचित कर दिया गया।[14]

निष्कर्ष

भारत एक समृद्ध देश है जहां गरीब लोग हैं और बहुत सारी सामाजिक–आर्थिक असमानताएं हैं। दलित गांव के बाहर रहते थे और उनकी पानी की टंकियों तक पहुंच नहीं थी और उन्हें अपना

व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता भी सीमित थी। दलित सभी संभावित क्षेत्रों में आंशिक रूप से सफल हुए, दलितों का काला पक्ष, फिर भी उन्हें कार्यस्थल पर सामाजिक भेदभाव और हिंसा का सामना करना पड़ता है। संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद दलित शोषण का आसान निशाना बनते रहे। दलितों के लिए कोई भी पेशा अपनाना या कोई व्यवसाय, व्यापार या व्यवसाय करना बहुत अलग है। दलित महिलाओं के शोषण, शारीरिक उत्पीड़न, यौन उत्पीड़न के उदाहरण हैं, राज्य–दर–राज्य की जिम्मेदारियां उचित कानून और इसके सख्त कार्यान्वयन के माध्यम से सुरक्षा सुनिश्चित करती हैं। दलित समुदाय के खिलाफ सभी प्रकार के भेदभाव के उन्मूलन पर कन्वेंशन जैसे दलितों पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हैं। दलित संगठनों और बसपा जैसे राजनीतिक दलों द्वारा भेदभाव को खत्म करने के लिए संवैधानिक सुरक्षा उपायों और कानूनों ने दलितों को अपनी अलग राजनीतिक पहचान का दावा करने के लिए एकजुट करने में प्रमुख भूमिका निभाई।

संदर्भ

1. हरगोपाल, जी. (1997), मानवाधिकार की राजनीतिक अर्थव्यवस्था, उभरते आयाम, मुंबईः हिमालय पब्लिशिंग हाउस।
2. खंडेला, एम.सी. (2012), मानवाधिकार और सामाजिक वास्तविकताएँ, जयपुरः द डायमंड प्रिंटिंग प्रेस।
3. जैन, एन. (2006). ह्यूमन राइट अंडर डेमोक्रेसी, द इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस, खंड 67, नंबर 1, जनवरी–मार्च, पृ. 140– 49.
4. सर्जियो, बी.(2009), मानवाधिकार शिक्षण, नई दिल्लीः प्रमुख प्रकाशक और वितरक।
5. प्रसाद, आर.एन. (2011), भारत में मानवाधिकार, नई दिल्लीः कनिष्क प्रकाशक, वितरक।
6. वेलमैन, सी. (2000). एकजुटता, व्यक्तिगत और मानव अधिकार, वॉल्यूम 22, जॉन्स हॉपकिन्स यूनिवर्सिटी प्रेस।
7. बेगारी, जे. (2014). पूछताछ लोकतंत्र और मानवाधिकारः तेलंगाना पीपुल्स मूवमेंट, जयपुरः रावत प्रकाशन।
8. उमाकांत और थ्रोट एस. (2004). जाति, नस्ल और भेदभाव, अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में प्रवचन, नई दिल्ली, रावत प्रकाशन।
9. भुइमाली, ए. (2007). लोकतंत्र और मानवाधिकार, नई दिल्ली, धारावाहिक प्रकाशन।
10. अम्बेडकर, बी.आर. (1936), महात्मा गांधी के उत्तर के साथ जाति का उन्मूलन, महाराष्ट्र, डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर स्रोत सामग्री प्रकाशन।
11. गेहलोत, एन.एस. (1993), डॉ. अम्बेडकर, महात्मा गांधी और दलित आंदोलन, भारतीय राजनीति विज्ञान संघ, जुलाई–दिसंबर, पृष्ठ 380–86।
12. कश्यप, एस.सी. (2010), भारतीय संविधान संघर्ष और विवाद, नई दिल्ली, विटस्टा पब्लिशिंग प्रा. सीमित।
13. ग्रोवर, बी.एल. (2009), आधुनिक भारत का इतिहास, नई दिल्ली, एस. चंद एंड कंपनी लिमिटेड।
14. शास्त्री, टी.एस.एन. (2005), इंडिया एंड ह्यूमन राइट्स रिफ्लेक्शन्स, नई दिल्ली, कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग कंपनी पी.